



विघटन एवं विस्थापन: बुजुर्गों के विशेष संदर्भ में

जे. अजिता कुमारी, पीएच-डी, हिंदी विभाग,
निर्मला कॉलेज, किजहक्केकरा, मुवत्तुपुझा, एर्नाकुलम, केरल, भारत

ORIGINAL ARTICLE



Author

जे. अजिता कुमारी

E-mail : jajithakumari@gmail.com

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 12/07/2026
Revised on : 13/09/2026
Accepted on : 23/09/2026
Overall Similarity : 01% on 15/09/2026



Plagiarism Checker X - Report

Originality Assessment

0%

Overall Similarity

Date: Sep 15, 2026 (10:54 AM)
Matches: 0 / 2303 words
Sources: 0

Remarks: No similarity found,
your document looks healthy.

Verify Report:
Scan this QR Code



शोध सार

प्रस्तुत आलेख आधुनिक समाज में तेजी से बढ़ते शहरीकरण, उपभोक्तावाद और पारिवारिक विघटन के कारण बुजुर्गों के सामने उत्पन्न 'विघटन और विस्थापन' की गंभीर समस्या पर प्रकाश डालता है। संयुक्त परिवारों के टूटकर एकल परिवारों में बदलने से वृद्धजनों की स्थिति हाशिए पर आ गई है, जिससे वे अपने ही घर में भावनात्मक, सामाजिक और भौतिक रूप से बेगाने हो गए हैं। यह आलेख समकालीन हिंदी कथा-साहित्य की दो प्रमुख कहानियों कृशेखर मल्लिक की 'बाहर वाला कमरा' और पीबा की 'वे टु के' के माध्यम से इस त्रासदी का विश्लेषण करता है। शबाहर वाला कमरा कहानी जहाँ अपने ही घर के भीतर बुजुर्गों के आंतरिक और भावनात्मक निष्कासन (अलगाव) को रेखांकित करती है, वहीं 'वे टु के' कहानी जहाँ से उखड़ने, गाँव से महानगरों की ओर भौतिक विस्थापन और सांस्कृतिक पहचान खोने के दर्द को उजागर करती है। अंततः, यह आलेख यह संदेश देता है कि इस संकट का समाधान केवल कानूनों से संभव नहीं है, बल्कि समाज में नैतिक मूल्यों, संवेदनशीलता और बुजुर्गों को उनका खोया हुआ सम्मान वापस लौटाने की आवश्यकता है।

मुख्य शब्द

विघटन, वरिष्ठ नागरिक, परिवार, उपभोक्तावाद, पीढ़ीगत संघर्ष

आधुनिक समाज में तीव्र गति से हो रहे सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों ने मानव जीवन की मौलिक संरचना को गहराई से प्रभावित किया है। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर वैज्ञानिक उन्नति, शहरीकरण और वैश्वीकरण के नए द्वार खुले हैं, वहीं दूसरी ओर परिवार नामक सुदृढ़ सामाजिक संस्था में विघटन और विस्थापन की गंभीर समस्या उत्पन्न हुई है। इस विघटनकारी प्रवृत्ति का सबसे दर्दनाक और प्रत्यक्ष प्रभाव समाज के सबसे संवेदनशील वर्ग बुजुर्गों (वरिष्ठ नागरिकों) पर पड़ा है। पारंपरिक भारतीय समाज में बुजुर्गों को परिवार की धुरी, ज्ञान और अनुभवों का अक्षय भंडार तथा सांस्कृतिक मूल्यों का संवाहक माना जाता

था। संयुक्त परिवार प्रणाली में उनकी स्थिति अत्यंत आदरणीय एवं निर्णायक होती थी। परंतु समकालीन दौर में व्यक्तिवाद, उपभोक्तावाद, भौतिकवादी सोच तथा आधुनिक जीवनशैली के बढ़ते प्रभाव ने संयुक्त परिवारों को छिन्न-भिन्न कर एकल परिवारों में परिवर्तित कर दिया है। इसके परिणामस्वरूप बुजुर्गों का भावनात्मक, सामाजिक तथा भौतिक विस्थापन एक विकट समस्या के रूप में सामने आया है।

वर्तमान व्यवस्था और आधुनिक जीवनशैली ने बुजुर्गों के अस्तित्व, उनकी गरिमा तथा उनकी सामाजिक उपयोगिता पर गंभीर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। यद्यपि सरकार तथा विभिन्न सामाजिक संस्थाओं द्वारा बुजुर्गों की सुरक्षा, भरण-पोषण, स्वास्थ्य सेवा और विधिक अधिकारों के लिए अनेक नियम व कानून बनाए गए हैं, किंतु समाज की विकृत और संवेदनहीन मानसिकता के कारण ये प्रयास धरातल पर पूर्णतः प्रभावी सिद्ध नहीं हो पा रहे हैं। कानूनों के अस्तित्व के बावजूद बुजुर्गों को उपेक्षा, तिरस्कार और अलगाव का सामना करना पड़ रहा है। पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी के बीच विचारों, जीवन-मूल्यों और प्राथमिकताओं को लेकर द्वंद्व अथवा संघर्ष होना स्वाभाविक है, किंतु जब यह संघर्ष सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को तहस-नहस करने लगता है, तब यह परिवार और समाज दोनों के विनाश का कारण बन जाता है। नई पीढ़ी जहाँ त्वरित प्रगति, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और आर्थिक समृद्धि को सर्वोपरि मानती है, वहीं पुरानी पीढ़ी नैतिक मूल्यों, पारिवारिक एकजुटता और भावनात्मक संबंधों को प्राथमिकता देती है। इस वैचारिक खाई के कारण बुजुर्ग अपने ही घर में बेगाने और अनुपयोगी महसूस करने लगते हैं।

हिंदी साहित्य सदैव से सामाजिक यथार्थ का दर्पण रहा है। समकालीन हिंदी कथा-साहित्य में बुजुर्गों की इस दयनीय स्थिति, पारिवारिक विघटन और विस्थापन की पीड़ा को अत्यंत सूक्ष्मता और संवेदनशीलता के साथ चित्रित किया गया है। विशेष रूप से शेखर मल्लिक की प्रसिद्ध कहानी “बाहर वाला कमरा” तथा पीबा की कहानी “वे टु के” इस संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रासंगिक रचनाएँ हैं। ये कहानियाँ केवल काल्पनिक कथाएँ नहीं हैं, बल्कि आधुनिक समाज की उस कड़वी सच्चाई को उजागर करती हैं जहाँ बुजुर्गों का अपने ही घर में हाशिए पर धकेला जाना और अपनी जड़ों से उखड़कर महानगरों की अजनबी दुनिया में भटकना एक आम त्रासदी बन चुका है।

शेखर मल्लिक की कहानी “बाहर वाला कमरा” पारिवारिक विघटन, बुजुर्गों के अलगाव और उनके आत्मसम्मान पर चोट की एक हृदयस्पर्शी गाथा है। इस कहानी का मुख्य पात्र और नायक एक वृद्ध पिता है, जो अपने जीवन के उत्तरार्ध में अपने बच्चों से उसी आदर, स्नेह और सम्मान की प्रतीक्षा रखता है जो उसने पारंपरिक रूप से अपने बुजुर्गों को दिया था या जो पारिवारिक मूल्यों का स्वाभाविक हिस्सा होना चाहिए, किंतु आधुनिकता की दौड़ में अंधे हो चुके उसके अपने ही परिवार के सदस्यों की दृष्टि में उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह गई है। “घर तो घरवालों के लिए होता है, किंतु इस बुजुर्ग पिता की झोली में अपनों द्वारा दिया गया केवल तिरस्कार, उपेक्षा और अकेलापन ही आता है।”

कहानी में “बाहर वाला कमरा” केवल एक भौतिक स्थान नहीं है, बल्कि यह बुजुर्गों के सामाजिक और भावनात्मक निष्कासन का एक सशक्त प्रतीक है। जब परिवार के छोटे सदस्य या बच्चे वृद्ध पिता को मुख्य घर या पारिवारिक गतिविधियों से अलग करके घर के सबसे बाहरी कमरे में स्थानांतरित कर देते हैं, तो यह सीधे तौर पर उनके अलगाव को दर्शाता है। यह स्थिति यह प्रकट करती है कि पिता अब मुख्य पारिवारिक निर्णय-प्रक्रिया या सुख-दुख का हिस्सा नहीं है; वह केवल एक बाहरी वस्तु की भांति घर के मुहाने पर टिका दिया गया है। कहानी की पंक्तियाँ इस कड़वी सच्चाई को उघाड़ती हैं कि “उनके अस्तित्व का होना या न होना अब परिवार के लिए कोई मायने नहीं रखता। उनका होना या न होना अब पूरी तरह से बेमानी और अर्थहीन हो चुका है।” परिवार के लिए सिर्फ उनका बेटा कनिष्क मायने रखता है। श्रीमती कनक और घर के अन्य सदस्यों ने मिलकर वृद्ध पिता को पूरी तरह से खारिज कर दिया है, उनका बहिष्कार कर दिया है। आज स्थिति यह है कि उनका कोई खौफ या प्रभाव घर में नहीं बचा है। “वे कितना भी कहें, चिल्लाएँ या अपना दुख व्यक्त करें, पर उनका कहा हुआ कोई सुनता नहीं, कोई उस पर ध्यान नहीं देता। वे पूरी तरह से अशक्त और असहाय बना दिए गए हैं।”

“बाहर वाला कमरा” कहानी में बुजुर्ग पिता के भीतर उत्पन्न होने वाला संवेदनात्मक प्रतिरोध भी अत्यंत ध्यान देने योग्य है। यह प्रतिरोध मुखर या हिंसक नहीं है, बल्कि यह एक मौन पीड़ा, आंतरिक ग्लानि और असहायता से उपजा प्रतिरोध है। जब एक बुजुर्ग व्यक्ति को यह अहसास कराया जाता है कि उसका अपने ही बनाए घर में कोई मूल्य नहीं है, तो उसके भीतर का स्वाभिमान तिल-तिल कर मरता है। वह बाहरी कमरे में बैठकर केवल बीत चुके दिनों की स्मृतियों में जीता है। यहाँ लेखक ने बहुत ही मार्मिक ढंग से दिखाया है कि किस प्रकार पुरानी पीढ़ी अपनी जड़ों, पुरानी परंपराओं और संस्कारों को रातों-रात त्यागकर आधुनिकता के नए खांचे में खुद को ढालने में असमर्थ होती है। पुरानी बातों को त्यागकर तुरंत कुछ नया अपनाना किसी भी बुजुर्ग के लिए व्यावहारिक रूप से संभव नहीं होता। “बाहर वाला कमरा” में जहाँ पिता अपनी पत्नी और परिवार से मानसिक व शारीरिक रूप से दूर हो जाता है, वहीं उसके भीतर का अकेलापन और गहरा होता चला जाता है।

दूसरी ओर, पीबा की कहानी “वे टु के” विस्थापन और जड़ों से उखड़ने की एक अलग लेकिन उतनी ही भयानक त्रासदी को रेखांकित करती है। यह कहानी गाँव से नगर, नगर से महानगर और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भूमंडलीकृत विश्व में सर्वशक्तिमान, संपन्न देश एवं बेहतर ज़िंदगी की तलाश में जाने वाले मानव की बदलती मानसिकता को उजागर करती है। आज का युवा वर्ग अपनी आर्थिक महत्वाकांक्षाओं, करियर की ऊँचाइयों और सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिए किसी भी हद तक जाने को तैयार है। इस अंधी दौड़ में पारिवारिक संबंध और बुजुर्ग माता-पिता की भावनाएँ उसके लिए गौण हो जाती हैं।

“वे टु के” कहानी का केंद्र पात्र अजय है, जो अपनी उच्च महत्वाकांक्षाओं और करियर के कारण अपने बूढ़े माता-पिता को लेकर गाँव से महानगर चला जाता है। महानगर की आपाधापी, भीड़-भाड़, कोलाहल और तेज रफ्तार ज़िंदगी में उसके वृद्ध माता-पिता खुद को पूरी तरह से अजनबी, असहज और अयोग्य पाते हैं। गाँव की खुली हवा, आत्मीयता, सामाजिक संबंधों और अपनी मिट्टी से कटना उनके लिए एक आत्मिक मृत्यु के समान होता है। महानगर में वे चार दीवारों के भीतर कैद होकर रह जाते हैं, जहाँ न तो कोई बातचीत करने वाला है और न ही उनकी संवेदनाओं को समझने वाला।

कहानी में मोड़ तब आता है जब अजय अपने माता-पिता की गाँव की सारी ज़मीन-जायदाद बेचकर महानगर में एक पक्का फ्लैट खरीदने की योजना बनाता है। ज़मीन केवल संपत्ति का टुकड़ा नहीं होती, बल्कि वह किसी भी व्यक्ति की पहचान, उसकी जड़ों और उसकी स्मृतियों का आधार होती है। जब ज़मीन बेचने के बाद वे महानगर में बसने वाले होते हैं, तभी अजय को अचानक अपनी कंपनी या करियर के सिलसिले में पुनः कलकत्ता जाना पड़ता है। इस स्थिति में बुजुर्ग माता-पिता का धैर्य जवाब दे जाता है। उनका यह कहना कि “चाहे तो आरती और बेटा चला जाये, हम अब यहाँ से कहीं नहीं जाने वाले” उनके भीतर छिपे गहरे विस्थापन के दर्द, आक्रोश और अपनी जड़ों के प्रति अंतिम मोह को व्यक्त करता है। वे अब और अधिक उखड़ने, बार-बार विस्थापित होने और महानगरों की बेगाना दुनिया में भटकने से साफ इंकार कर देते हैं।

यह कहानी इस क्रूर यथार्थ को सामने लाती है कि बेटा समाज की सबसे ऊँची सीढ़ी को छूने और ऊँचाइयों के सबसे बड़े तमगे को हासिल करने की लालसा में अपने ही परिवार के आत्मिक ताने-बाने को खोता जा रहा है। आज के युवा के लिए परिवार सिर्फ उसकी अपनी व्यक्तिगत ज़िंदगी का एक छोटा सा हिस्सा है, जिसे वह अपनी सुविधा के अनुसार इस्तेमाल कर सकता है या छोड़ सकता है, परंतु इसके ठीक विपरीत, बूढ़े माँ-बाप के लिए उनका परिवार ही उनकी पूरी ज़िंदगी होता है। जब वही परिवार उनसे छिन जाता है या उन्हें एक बोझ समझने लगता है, तो उनका पूरा अस्तित्व ही चरमरा जाता है।

यदि हम शेखर मल्लिक की कहानी “बाहर वाला कमरा” और पीबा की कहानी “वे टु के” का तुलनात्मक एवं समन्वित अध्ययन करें, तो हमें आधुनिक समाज में बुजुर्गों के विघटन और विस्थापन के दो भिन्न किंतु आपस में गहरे जुड़े हुए आयाम देखने को मिलते हैं। पहली कहानी “बाहर वाला कमरा” में जहाँ विघटन आंतरिक और भावनात्मक है अर्थात् व्यक्ति अपने ही घर में रहते हुए, अपने ही लोगों के बीच “बाहर वाले कमरे” में धकेल दिया जाता है और अपनों से दूर हो जाता है। वहीं दूसरी कहानी “वे टु के” में विस्थापन भौतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक है जहाँ बुजुर्गों को उनकी जन्मभूमि, गाँव और जड़ों से उखाड़कर महानगरों के अनजान और संवेदनहीन माहौल में फेंक दिया जाता है।

इन दोनों कहानियों के पात्रों का व्यवहार भी पीढ़ीगत अंतर और पारिवारिक संबंधों के बदलते स्वरूप को स्पष्ट करता है। पहली कहानी में जहाँ बेटा अपने पिता को समझने में पूरी तरह से विफल रहता है और बहू तथा अन्य सदस्य बुजुर्ग को पूरी तरह उपेक्षित कर देते हैं, वहीं दूसरी कहानी में भी बेटा अपनी महत्वाकांक्षाओं के आगे माता-पिता की आत्मिक पीड़ा को नहीं देख पाता। हालाँकि, इन दोनों कहानियों के बीच एक महत्वपूर्ण अंतर यह भी उभरकर आता है कि “बाहर वाला कमरा” में जहाँ पिता पूरी तरह अकेला पड़ जाता है और अपने ही परिवार में अलगाव झेलता है, वहीं “वे टु के” में दोनों बूढ़े माँ-बाप एक-दूसरे का परस्पर सहारा बनते हैं। वे इस बदलती हुई हिंसक और संवेदनहीन संस्कृति का एक साथ सामना करते हैं और अंततः एक साथ मिलकर और अधिक विस्थापित होने से इंकार कर देते हैं। उनका यह संयुक्त इंकार आधुनिकता के नाम पर हो रहे शोषण और भावनात्मक बेदखली के खिलाफ एक सशक्त सांस्कृतिक प्रतिरोध बन जाता है।

बुजुर्गों के विघटन और विस्थापन की यह समस्या केवल इन दो कहानियों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह समकालीन सामाजिक यथार्थ का एक सर्वव्यापी सच बन चुकी है। आज समाज में वृद्धों की स्थिति अत्यंत दयनीय होती जा रही है। इसके पीछे अनेक सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक कारण उत्तरदायी हैं। इस गंभीर सामाजिक संकट का समाधान केवल कानून बनाने या सरकारी पेंशन योजनाएँ लागू करने से संभव नहीं है। इसके लिए समाज के चेतना-स्तर पर बदलाव की अत्यंत आवश्यकता है। हमें यह समझना होगा कि बुढ़ापा जीवन का एक अनिवार्य और प्राकृतिक पड़ाव है, जिससे हर व्यक्ति को गुज़रना है। आज जो युवा अपने बुजुर्गों के साथ उपेक्षापूर्ण व्यवहार कर रहे हैं, कल उन्हें भी इसी स्थिति का सामना करना पड़ेगा।

पारिवारिक स्तर पर बुजुर्गों को केवल भोजन और आश्रय देना ही काफी नहीं है, बल्कि उन्हें सम्मान, आत्मीयता और निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में शामिल करना आवश्यक है। उनके अनुभवों का लाभ उठाकर ही नई पीढ़ी एक संतुलित और संस्कारी जीवन जी सकती है। स्कूलों और कॉलेजों के पाठ्यक्रम में नैतिक शिक्षा और मानवीय मूल्यों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए ताकि आने वाली पीढ़ी अपने माता-पिता और बुजुर्गों के प्रति संवेदनशील बन सके।

साहित्य इस दिशा में एक अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। शेखर मल्लिक की “बाहर वाला कमरा” और पीबा की “वे टु के” जैसी कहानियाँ समाज के सोए हुए विवेक को जगाने का कार्य करती हैं। ये रचनाएँ हमें आत्मनिरीक्षण करने पर मजबूर करती हैं कि हम विकास और आधुनिकता की किस दिशा में जा रहे हैं जहाँ अपने ही जन्मदाताओं के लिए हमारे दिलों में जगह खत्म होती जा रही है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः, विघटन और विस्थापन की यह दोहरी त्रासदी आधुनिक मानव सभ्यता के नैतिक पतन का सूचक है। यदि हमने समय रहते अपने पारिवारिक मूल्यों, सहसंवेदना और नैतिक दायित्वों को पुनः स्थापित नहीं किया, तो हमारी आने वाली पीढ़ियाँ एक ऐसे खोखले और संवेदनहीन समाज का निर्माण करेंगी जहाँ रिश्ते केवल कागज़ों और औपचारिकताओं तक सीमित रह जाएँगे। बुजुर्गों को उनका खोया हुआ सम्मान, आदर और श्रद्धा का मुख्य स्थान वापस लौटाना ही इस समस्या का एकमात्र और स्थायी समाधान है।

सन्दर्भ सूची

1. मलिक, शेखर (2016) बाहर वाला कमरा, हाशिए की आवाज. *साहित्यिक पत्रिका संवेद*, 8(1), जनवरी 2016, पृ. 166।
2. पीबा, पी.के. (2002) *पीबा, वे टु के*, डी.सी. बुक्स, किज़हक्केकरा, मुवत्तुपुझा, एर्नाकुलम, केरल, पृ. 22।
